THE TIMES OF INDIA

Date:03-03-20

# The US cuts a deal with Taliban. But where is the agreement for bringing peace?

**Dilip Sinha**

The US and Taliban have signed what they claim is a comprehensive peace agreement. This is an odd deal between a superpower fighting a worldwide war against terrorism and a terrorist organisation. The superpower, tired of fighting a war for 18 years, is keen to withdraw its forces. It has cut a deal with the terrorists, with the self-deluding diplomatic artifice that it is "not recognised by the United States as a state" and left the recognised government of Afghanistan in the lurch. The US had to send its defence minister to Kabul to hold the Afghan president's hand. It also issued a joint declaration which the abandoned government in Kabul would be hard pressed to fulfil once Taliban come in.

A peace agreement starts with a ceasefire and is based on a commitment by both sides to respect it while further talks take place. Taliban, who have stubbornly refused to talk to the Afghan government, have made no such commitment in the agreement. They have only agreed to hold intra-Afghan negotiations "with Afghan sides on March 10, 2020" and a ceasefire will be "an item on the agenda" of the talks. The only commitment made by Taliban is that they will not allow "the use of the soil of Afghanistan" against the security interests of the "US and its allies". Thus, Taliban's only obligation is to the US and its allies, not to the people and government of Afghanistan and certainly not to the countries of the region.

Apart from agreeing to withdraw all its troops and those of its allies within 14 months, the US has committed to lift all its sanctions against Taliban by August 27. It has also agreed to "request" the Security Council to lift UN sanctions on them.

The US has not only made commitments on behalf of its allies but also on behalf of the Afghan government. It has agreed to release 5,000 Taliban prisoners in return for 1,000 prisoners with Taliban. Taliban have agreed that the released prisoners, most of whom would be hard-core terrorists, will not be allowed to indulge in activities against US interests. There is no commitment to abjuring violence or to not indulge in terrorist activities either in Afghanistan or in other countries. If there are any illusions in Afghanistan or its friends, like India, about the intentions of Taliban, this provision of the agreement should be a wake-up call.

The declaration contains an alarming admission of Pakistan's interference in Afghanistan, which, but for its ominous implications, would seem to be an amusing aside. The US declares that it will facilitate discussions between Afghanistan and Pakistan "to work out arrangements to ensure neither country's security is threatened by actions from the territory of the other side". Taliban were given shelter in Pakistan when they were thrown out by the US military action and it is from there that they have been carrying out raids in Afghanistan. The agreement glosses over this gross violation of international law. It is not surprising that President Donald Trump referred to Prime Minister Imran Khan as his good friend during his recent visit to India.

Taliban have successfully struck a remarkably one-sided deal with the US. They have secured its commitment to withdraw without making any reciprocal commitment to peace or to respect constitutional or democratic norms. It is not that anyone has any illusions about the commitment of Taliban and their sponsors, Pakistan, to such values, but an expression of intent, howsoever insincere, would have given President Trump something to defend his action back home, where it has already been criticised by his former national security adviser, John Bolton. President Ashraf Ghani is also understandably unhappy for being asked to release Taliban prisoners.

As for India, one only has to go back to the events that followed the Soviet withdrawal in the 1980s to anticipate the implications of this deal. At that time too, India had been a supporter of the Afghan government, which was soon overthrown by the Pakistan-backed mujahideen. A replay appears to be on the cards.

---

बिज़नेस स्टैंडर्ड

***Date:02-03-20***

# सही काम के लिए सही व्यक्ति का हो चयन

**जैमिनी भगवती , (लेखक पूर्व राजदूत और विश्व बैंक के पूर्व अधिकारी हैं)**

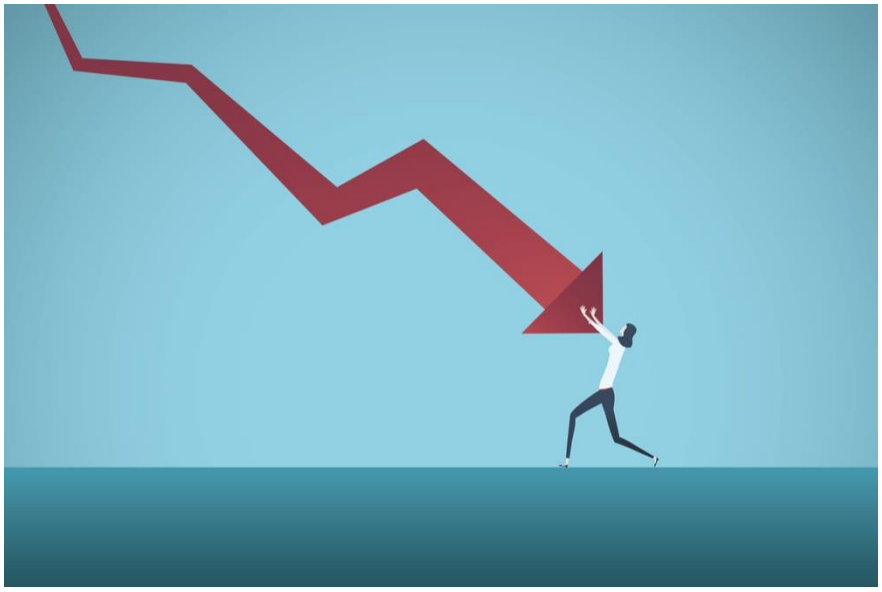

भारत की आर्थिक प्रगति में जारी सुस्ती की वजह से लोगों के लिए नए मौके पैदा करने और नौकरियों के सृजन में भारी कमी आई है। इसके अलावा पिछले कई साल से वस्तुओं के व्यापार में आ रही गिरावट प्रतिस्पद्र्धा-भाव में पतन को दर्शाती है। परेशान करने वाले इन रुझानों के कारणों एवं परिणामों पर सार्वजनिक चर्चा गत 1 फरवरी को बजट पेश होने के पहले और बाद में भी हुई है।

निजी बातचीत में लोग अक्सर यह चिंता जाहिर करते हैं कि निर्णय निर्माण से जुड़े तमाम वरिष्ठ नियामकों एवं अधिकारियों के पास ठोस शख्सियत, प्रासंगिक कार्य-अनुभव या उससे जुड़ी जटिलताओं की समझ नहीं है। यह संभव है कि महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठे कुछ लोगों ने चुप्पी साध ली और बेहतर समझ रखते हुए भी बोलने के लिए खड़े नहीं हुए। या फिर 1970 के दशक के मध्य में आपातकाल के दौरान सरकार में वरिष्ठ पदों पर आसीन कई लोगों के बारे में जैसा कहा जाता है, इन लोगों से भी जब झुकने को कहा गया तो वे रेंगकर चलने से भी अधिक के लिए राजी हो गए।

नई दिल्ली में बैठी सरकार पर नजर रखने वाला कोई भी व्यक्ति मंत्रिमंडल की नियुक्ति समिति (एसीसी) से परिचित होगा। एसीसी से अनजान लोगों के लिए बता दूं कि इस मंत्रिमंडलीय समिति के अगुआ प्रधानमंत्री होते हैं और गृह मंत्री एवं संबंधित मंत्रालय के मंत्री इसके दो अन्य सदस्य होते हैं। सभी संवैधानिक पदों, नियामकीय संस्थाओं के प्रमुखों, केंद्र सरकार में संयुक्त सचिव और उससे ऊपर के पदों के लिए एसीसी ही नियुक्तियों को मंजूरी देती है और उस नियुक्ति का कार्यकाल भी तय करती है। मसलन, चुनाव आयुक्तों, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी), भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण (ट्राई), प्रतिस्पद्र्धा आयोग एवं केंद्रीय विद्युत नियामकीय आयोग के प्रमुखों, सूचना आयुक्तों, केंद्र सरकार के सचिवों, आरबीआई गवर्नर, भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (सेबी), भारतीय बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण और पेंशन कोष नियमन एवं विकास प्राधिकरण और वित्त मंत्रालय में मुख्य आर्थिक सलाहकार जैसे पदों पर नियुक्ति मंत्रिमंडल की नियुक्ति समिति ही करती है।

फिलहाल संवैधानिक, नियामकीय एवं केंद्र में सचिव स्तर के लगभग सारे पदों पर भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) के सेवानिवृत्त या जल्द ही सेवानिवृत्त होने वाले अधिकारी तैनात हैं। सैद्धांतिक तौर पर यह संभव है कि इन बेहद अहम पदों पर उपयुक्त लोगों को ही नियुक्त किया गया है। हालांकि यह भी मुमकिन है कि केवल एक सेवा के ही अधिकतर सेवानिवृत्त अफसरों को ही इन वरिष्ठ पदों पर नियुक्त करने से राष्ट्रीय हित पूरा नहीं होता है। केंद्र एवं राज्य सरकारें अक्सर कम योग्य शख्स का ही चयन करती हैं लिहाजा ऐसा लगता है कि नियुक्ति की मौजूदा परंपराएं भारतीय राजनीतिक कार्यपालिका के हितों को पूरा करती है।

वित्त मंत्रालय के सीमित संदर्भ में मुझे इस समाचारपत्र के एक संपादक के साथ हुई बातचीत याद है। संपादक का यह मानना था कि मुख्य आर्थिक सलाहकार या आरबीआई गवर्नर जैसे पदों पर सरकार को यह चाहिए कि जरूरी होने पर देश के बाहर से भी बेहतरीन प्रतिभा वाले लोगों की तरफ देखे। सरकार ने कुछ मौकों पर ऐसा किया भी है और विदेश से नियुक्त किए गए लोग इसके लिए पूरी तरह योग्य थे। हालांकि मैं इस बात को लेकर आश्वस्त नहीं हूं कि इन लोगों को अपने कार्यशील जीवन वाले देश की सरकार या नियामकों में काम करने का कोई अनुभव था या नहीं। वैसे उनके लिए यह कोई प्रतिकूल बात नहीं थी क्योंकि वे जल्द सीख सकते हैं। हालांकि आर्थिक सलाहकार या आरबीआई गवर्नर जैसे अधिकारियों को भारत में सरकार के भीतर रहते हुए आगे बढऩे का मौका भी होता है।

कभी-कभी यह दलील दी जाती है कि भारत के भीतर इस काम को करने के लिए एक भी सुयोग्य व्यक्ति मौजूद नहीं था। सरकार से जुड़े अधिकांश पदों के लिए यह बात तथ्यात्मक रूप से सही नहीं हो सकती है। इस बात की संभावना है कि विश्वविद्यालयों, विशेषज्ञता वाले संस्थानों और निजी कंपनियां अपने प्रोफेसरों, विशेषज्ञों एवं कार्यकारियों को सरकार या किसी नियामकीय संस्था में पांच साल तक काम करने के लिए मुक्त कर दें। ऐसे लोग वापस अपने संस्थान में लौटने के बाद उनके लिए एक परिसंपत्ति होंगे।

शासकीय कामकाज के बारे में जानकारी उस समय खो जाती है जब विदेश से बुलाए गए विशेषज्ञ अपने देश लौट जाते हैं। हालांकि विदेशी इंजीनियरों एवं वैज्ञानिकों को वित्तीय रूप से व्यवहार्य होने पर एक तय अवधि वाली नियुक्ति के लिए रियायतें दी जानी चाहिए ताकि रेलवे, पावर ग्रिड कॉर्पोरेशन या डीआरडीओ जैसे संस्थानों में उनकी सेवाएं ली जा सकें।

केंद्र सरकार चयन प्रक्रिया को समय पर शुरू करने के लिए आम तौर पर अधिक सक्रियता नहीं दिखाती है। किसी पदस्थ अधिकारी का कार्यकाल पूरा होने वाला होता है लेकिन आखिर तक यह साफ नहीं होता है कि उसे सेवा-विस्तार मिलेगा

या नहीं। वरिष्ठ पदों पर चयन प्रक्रिया पद रिक्त होने के छह महीने पहले ही शुरू हो जानी चाहिए। यह काम किसी अपवाद के बगैर होना चाहिए और न्यूनतम शैक्षणिक योग्यताएं एवं समुचित कार्य-अनुभव का उल्लेख होना चाहिए। मसलन, वित्तीय क्षेत्र के पदों पर काम करने की इच्छा रखने वालों के पास किसी प्रतिष्ठित संस्थान से अर्थशास्त्र या वित्त में न्यूनतम एक डिग्री जरूर होनी चाहिए। उसके बाद पांच सदस्यीय चयन समिति को संबंधित क्षेत्र का अनुभव रखने वाले तीन उम्मीदवार छांटे जाने चाहिए। चयन समितियों में विभिन्न सेवाओं से दो सेवानिवृत्त सचिव और तीन विषय विशेषज्ञों को जगह देनी चाहिए। इनमें से एक विशेषज्ञ के पास बड़ी निजी कंपनियों में न्यूनतम 30 साल का कार्य-अनुभव होना चाहिए। पांच सदस्यों की इस समिति को उस पद के लिए शॉर्टलिस्ट किए गए तीन उम्मीदवारों के नाम मंत्रिमंडलीय समिति के पास भेजने चाहिए।

अतीत में आजमाए जा चुके विकल्पों से बड़ा अंतर होगा अगर किसी भी उम्मीदवार के उपयुक्त पाए जाने पर एसीसी खुद अपने स्तर पर ही नाम रखने के बजाय चयन समिति से दोबारा बैठकर तीन नए नाम भेजने को कहे। ऐसा होने पर किसी को भी चुनने को लेकर एसीसी के लचीलेपन में निश्चित तौर पर कमी आएगी। लेकिन ऐसा नहीं होगा कि इस सुझाई गई प्रक्रिया से कमतर लोगों का चयन हो जाए जबकि मौजूदा परंपरा यही है कि सभी वरिष्ठ पदों पर नियुक्तियां राजनीतिक कार्यपालिका के व्यक्तिनिष्ठ निर्णय पर छोड़ दी जाती है।

मैं उन लोगों से सहमति जताऊंगा जो कहते हैं कि सुझाई गई यह प्रक्रिया पिछले प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझावों जैसी ही है। निश्चित तौर पर एक उदासीन रवैये का यही मतलब होगा कि हम अहम पदों पर नियुक्ति के बारे में मौजूदा नीतियों को ही जारी रखे हैं। राजनीतिक कार्यकारी उसी संदेश को सुनते हैं जो उच्च स्वर में बोला जाए। उनके लिए मतदाताओं की अहमियत है और अगर एक बड़े तबके की यह राय बन जाती है तो भारत की सरकारें अपने लिए लाभकारी नीतियों को भी बदल देती हैं।

---

दैनिक भास्कर

***Date:03-03-20***

# कोरोना से निपटने में भारत का आबादी घनत्व चिंता की वजह

**संपादकीय**

कोरोना वायरस इस समय दुनिया के 70 देशों में फैल चुका है। इसके भारत में फैलने के खतरे को लेकर अमेरिकी एजेंसियों ने एक रिपोर्ट दी है, जिसके अनुसार भारत में आबादी घनत्व (455 व्यक्ति प्रति किमी) एक बड़ी समस्या है, क्योंकि यह आंकड़ा चीन के मुकाबले तीन गुना और अमेरिका (36 व्यक्ति प्रति किलोमीटर) के मुकाबले 13 गुना है। इस वायरस से पीड़ित व्यक्ति कुछ फीट की दूरी पर स्थित दो से तीन लोगों को प्रभावित करता है। इसके अलावा भारतीय समाज आदतन ऐसी संक्रामक बीमारियों में भी दूरी नहीं बनाता। एक अन्य समस्या उदारवादी शासन व्यवस्था की है, जिसमें सरकार का सख्त कदम लोगों के गुस्से का कारण बनता है, लिहाजा सरकारें रोकथाम के लिए सख्त कदम उठाने से बचती हैं। विशेषज्ञों के अनुसार इस वायरस का घातक प्रभाव धीरे-धीरे कम होता जाएगा, लेकिन अभी भारत के गांवों

में इस संकट से निपटने के लिए विशेष प्रबंध की जरूरत है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लूएचओ) भी विभिन्न देशों की मदद करने का खाका तैयार कर रहा है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि सघन आबादी वाले भारत में इस पर अंकुश के उपाय सरकार के लिए चुनौती हैं। डब्लूएचओ के महानिदेशक ने चीन सरकार द्वारा इस महामारी के बाद किए गए उपायों की जबरदस्त प्रशंसा की है। चीनी सरकार ने सुनिश्चित किया कि कोरोना वुहान से अन्य राज्यों में न फ़ैलने पाए। डब्लूएचओ का कहना है कि जिस तरह चीन ने इसकी रोकथाम के लिए प्रभावी कदम उठाए, वैसा ही अन्य देशों को करना होगा, ताकि वायरस से ग्रस्त लोगों को पूरी तरह अलग-थलग करके इसका प्रसार रोका जा सके। किसी भी देश को ऐसी महामारी के आसन्न संकट के लिए चिह्नित करने का खतरा यह है कि उसकी आर्थिक स्थिति पूरी तरह ध्वस्त हो जाती है, क्योंकि उस देश से आवागमन के अलावा व्यापार भी दुनिया के देश बंद कर देते हैं। यही कारण है कि चीन, ताइवान, दक्षिण कोरिया, ईरान सहित तमाम देश इस वायरस की चपेट में आने से आर्थिक रूप से भी क्षति झेल रहे हैं। हालांकि, भारत में अभी तक इस बीमारी की दस्तक के संकेत नहीं मिले हैं, फिर भी भारत सरकार किसी भी ऐसी स्थिति से निपटने को तैयार है। एक्सपर्ट्स मानते हैं कि इस वायरस में मृत्यु-दर (3.4 प्रतिशत) स्वाइन फ्लू (0.02) से भले ही ज्यादा हो, लेकिन इबोला (40.40), मर्स (34.4) व सार्स (9.6) से काफी कम है।

---

***Date:03-03-20***

# भारत अपनी स्वतंत्र अफगान नीति को दे आकार

## अफगानिस्तान में अमेरिका और तालिबान समझौते के बाद बढ़ सकती हैं चुनौतियां

**हर्ष वी पंत , (प्रो. इंटरनेशनल रिलेशन्स, किंग्स कॉलेज, लंदन)**

कई महीनों तक आगे-पीछे होने के बाद अंतत: अफगानिस्तान में समझौता हो ही गया। तालिबान से समझौते पर दस्तखत कराने में अमेरिका के सफल होने से अगले 14 महीनों में अफगानिस्तान से विदेशी सेनाओं की वापसी का रास्ता साफ हो गया है। आपसी विश्वास बढ़ाने के लिए दो हफ्तों के संघर्ष विराम के बाद दोहा में इस समझौते पर अमेरिका के विशेष दूत जाल्मे खलीलजाद और तालिबान के राजनीतिक प्रमुख मुल्ला अब्दुल घनी बरादर ने दस्तखत किए। इस मौके पर अफगानिस्तान, अमेरिका, भारत और पाकिस्तान के राजदूत भी मौजूद रहे। समझौते के तहत अगले तीन से चार महीनों में अमेरिका अपने सैनिकों की संख्या को 13,000 से घटाकर 8600 करेगा और 14 महीनों के भीतर इन्हें पूरी तरह हटा लेगा। हालांकि, इसके लिए तालिबान को पूरी तरह से अलकायदा का त्याग करना होगा और साथ ही यह सुनिश्चित करना होगा कि अफगानिस्तान की जमीन का इस्तेमाल अमेरिका या उसके सहयोगियों पर हमले के लिए इस्तेमाल न हो।

अमेरिका ने तालिबान पर लगे प्रतिबंधों को हटाने और बहुपक्षीय प्रतिबंधों को हटाने में मदद करने की बात कही है। इस समझौते में कैदियों की अदला-बदली का भी प्रावधान है। 10 मार्च से आेस्लो में अफगान सरकार और तालिबान के बीच शुरू होने वाली वार्ता से पहले 5000 तालिबान और 1000 अफगान सैनिकों की अदला-बदली होगी। अमेरिका ने इस समझौते के दौरान संतुलन साधने की भी कोशिश की। दोहा में जब समझौते पर दस्तखत हो रहे थे, तब अमेरिका के

रक्षामंत्री मार्क एस्पर काबुल में अफगान राष्ट्रपति अशरफ घनी के साथ अफगान सरकार को समर्थन का भरोसा दे रहे थे। वह यह साफ करने की कोशिश कर रहे थे कि इन उम्मीदभरे क्षणों के बावजूद यह सिर्फ शुरुआतभर है और अफगानिस्तान में शांति हासिल करने के लिए धैर्य के साथ ही सभी पक्षों को कुछ न कुछ समझौता तो करना ही पड़ेगा।

अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प के लिए चुनावी वर्ष में यह एक अहम समझौता है। अपने पिछले चुनाव के प्रचार में उन्होंने इराक और अफगानिस्तान में अमेरिका की अंतहीन लड़ाई को खत्म करने का वादा किया था। अब वह मतदाताओं से कह सकते हैं कि उन्होंने अपना वादा पूरा किया। उन्होंने उम्मीद जताई है कि तालिबान कुछ ऐसा करना चाहता है, जिससे दिखेगा कि हमने समय खराब नहीं किया, लेकिन साथ ही आगाह किया कि 'अगर बुरी चीजें हुईं तो हम इतनी ताकत के साथ वापस आएंगे, जैसा किसी ने देखा नहीं होगा।' इन वार्ताओं का किसी सहमति पर पहुंचना 18 साल के अफगान युद्ध का महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस दौरान अमेरिका ने लड़ाई पर न केवल एक ट्रिलियन डॉलर खर्च किए, बल्कि 2500 अमेरिकी सैनिकों और दसियों हजार अफगान सैनिकों व नागरिकों ने जान गंवाई। तालिबान के लिए भी यह समझना जरूरी है कि वार्ता ही अफगानिस्तान में उनकी राजनीतिक भूमिका के लिए सबसे तेज रास्ता होगा। अब अंतर-अफगान वार्ता का मंच तैयार हो चुका है और यह बहुत ही कठिन होने जा रही है। मतभेद खुलकर सामने आने लगे हैं। अफगान राष्ट्रपति ने कैदियों की अदला-बदली को वार्ता की पूर्व शर्त मानने से इनकार कर दिया है और कहा है कि यह वार्ता का हिस्सा हो सकता है। वह इन वार्ताओं में अपने अधिकारों का इस्तेमाल करके और छूट हासिल करना चाहते हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कैदियों की रिहाई अमेरिका का नहीं, अफगानिस्तान सरकार का अधिकार है।

आगे चुनौतियां केवल गंभीर होने जा रही हैं। असल में अफगानिस्तान में दो तरह के राजनीतिक विचार हैं। एक तालिबान का इस्लामिक अमीरात और दूसरा लोकतांत्रिक अफगानिस्तान। इन दोनों का मेलमिलाप कठिन है और तालिबान शासन की यादें आज भी ताजा हैं। सामान्य अफगान, विशेषकर पिछले दो दशकों में बड़ी होने वाली महिलाएं अपनी आजादी को लेकर चिंतित हैं। तालिबान द्वारा इस समझौते को अपनी विजय घोषित किए जाने के बाद से उन्हें इनके इरादों पर भरोसा करना मुश्किल हो रहा है। तालिबान को लेकर भारत की चिंताएं सबको पता हैं और इसमें कोई कमी नहीं हुई है। समझौते पर भारत की प्रतिक्रिया भी सतर्कता भरी रही। अमेरिकी राष्ट्रपति की यात्रा से भारत को अपनी चिंताओं से उसे अवगत कराने का भी मौका मिला है। पिछले दो दशकों में भारतीय कूटनीतिक समुदाय अमेरिका को अफगानिस्तान नीति बनाने के लिए समय-समय पर सलाह देते रहे हैं, लेकिन समय आ गया है कि भारत को अब अपनी स्वतंत्र अफगान नीति को आकार देना होगा।

---

नईदुनिया

***Date:03-03-20***

# आसान नहीं अफगानिस्तान की राह

**विवेक काटजू**

करीब डेढ़ साल की कशमकश और कई दौर की वार्ता के बाद आखिरकार अमेरिका और तालिबान के बीच समझौते पर हस्ताक्षर हो ही गए। गत शनिवार को कतर की राजधानी दोहा में हुए समझौते पर अमेरिका की ओर से जालमेई खलीलजाद ने हस्ताक्षर किए। वहीं तालिबान की तरफ से यह काम उसके राजनीतिक कार्यालय के मुखिया मुल्ला अब्दुल गनी बरादर ने किया। खलीलजाद खुद अफगानी मूल के अमेरिकी नागरिक हैं। वह अफगानिस्तान में राजदूत भी रह चुके हैं। हालांकि इस बहुप्रचारित समझौते से अफगानिस्तान में शांति और स्थिरता की राह कुछ खुलती दिख रही है, लेकिन वास्तव में यह अमेरिकी सेनाओं को स्वदेश बुलाने का एक जरिया ही अधिक है।तालिबान ने केवल इतनी प्रतिबद्धता दिखाई है कि वह अपनी नियंत्रित भूमि पर किसी भी ऐसे अंतरराष्ट्रीय आतंकी गुट को घुसने नहीं देंगे जिससे अमेरिका और उसके साथी देशों को कोई खतरा उत्पन्न हो।

इस समझौते के मूल में दो उद्देश्य हैं। जहां तालिबान की प्रमुख मांग यह थी कि अफगानिस्तान से सभी अंतरराष्ट्रीय सेनाएं बाहर चली जाएं वहीं अमेरिका यह मांग करता आ रहा था कि अफगानिस्तान से उसे कोई खतरा न रहे। यदि ये दो उद्देश्य पूरे हुए तभी यह करार सफल माना जाएगा।समझौते में तालिबान इस पर भी सहमत हुआ है कि अफगानिस्तान के राजनीतिक भविष्य के लिए वह सभी अफगानी पक्षों से बातचीत के लिए तैयार है। यह बातचीत 10 मार्च से शुरू होगी। इसमें कुछ खार्का खचने के बाद ही वह पूर्ण युद्धविराम पर मुहर लगाएगा। इस वार्ता के लिए अमेरिका ने सही माहौल बनाना भी शुरू कर दिया है। इसी कड़ी में उसने आश्वासन दिया है कि उसकी कोशिश होगी कि वार्ता से पहले अफगान सरकार की गिरफ्त में पांच हजार तालिबानी और तालिबान की कैद में एक हजार अफगानी सैनिकों की रिहाई हो सके।

जिस दिन यह समझौता हुआ उसी दिन काबुल में अफगान सरकार और अमेरिका के बीच एक संयुक्त बयान जारी हुआ। इसमें अफगान सरकार ने अमेरिका और तालिबान के बीच समझौते की पुष्टि की। अमेरिका ने स्पष्ट किया कि वह अफगान सरकार को भविष्य में हरसंभव सहायता देना जारी रखेगा। इसमें सामरिक मदद भी शामिल होगी। इससे भी महत्वपूर्ण अमेरिका की ऐसी मंशा है कि वह अफगानिस्तान और पाकिस्तान के बीच बातचीत में भी मदद करेगा ताकि दोनों देशों की भूमि से एक दूसरे के लिए कोई खतरा उत्पन्न न हो। एक लिहाज से यह बयान अफगान सरकार की प्रतिष्ठा कायम रखने लिए दिया गया प्रतीत होता है। ऐसा इसलिए, क्योंकि अमेरिका द्वारा तालिबान के साथ समझौता करने से तालिबान की अंतरराष्ट्रीय स्वीकार्यता बढ़ी है।

अब इस समझौते पर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की मुहर लगवाने की कोशिश होगी। भले ही यह समझौता हो गया हो, लेकिन इसकी राह में बड़ी मुश्किलें अभी भी कायम हैं। मिसाल के तौर पर समझौते की स्याही अभी सूखी भी नहीं कि अफगान सरकार ने कहा कि उसने तालिबान बंदियों को छोड़ने का कोई आश्वासन नहीं दिया। इस सूरत में क्या 10 मार्च से विधिवत बातचीत शुरू हो पाएगी?इसमें एक राजनीतिक पेच भी है और वह यह कि हाल में अफगान चुनाव आयोग ने अशरफ गनी को दोबारा राष्ट्रपति निर्वाचित घोषित किया है, मगर उनके मुख्य प्रतिद्वंद्वी अब्दुल्ला अब्दुल्ला ने हार स्वीकार नहीं की। उन्होंने तो समांतर सरकार गठित करने तक की बात की है। इस हालात में तालिबान से वार्ता के लिए सभी पक्षों को साथ लाने में मुश्किल होगी।

गनी चाहते हैं कि वह गैर-तालिबान पक्ष का नेतृत्व करें, लेकिन क्या अन्य समूह उनके नेतृत्व को स्वीकार करेंगे। तालिबान के साथ भी यह आशंका जुड़ी हुई है कि वह हिंसा कम तो कर देगा, लेकिन कोई गारंटी नहीं कि वह उसे पूरी तरह बंद करेगा।दोहा में इस समझौते पर हस्ताक्षर के मौके पर कतर में भारतीय राजदूत भी उपस्थित थे। उसी दिन

विदेश सचिव काबुल में थे जहां उन्होंने राष्ट्रपति गनी, डॉ. अब्दुल्ला अब्दुल्ला और अन्य अफगान नेताओं से बातचीत की। इस दौरान विदेश सचिव ने आश्वासन दिया कि भारत अपनी परंपरागत नीतियों को आगे बढ़ाएगा। यानी वह अफगानिस्तान को सहायता देता रहेगा और उसके आंतरिक मामलों में कभी हस्तक्षेप नहीं करेगा। जहां तक समझौते का सवाल है तो भारत सरकार ने इस पहलू पर जरूर गौर किया कि अफगानिस्तान का प्रत्येक राजनीतिक पक्ष इस करार के पक्ष में हो।

अब सवाल यह है क्या भारत तालिबान से बातचीत करेगा? एक सवाल यह भी उठ रहा है कि क्या भारत को तालिबान से पहले ही संबंध स्थापित कर लेने चाहिए थे? यह समझना आवश्यक है कि राजनयिक दृष्टि से बातचीत करना या संबंध स्थापित करने से दूसरे पक्ष की नीतियों या विचारधारा को वैधानिकता नहीं मिलती। 1990 के दशक में भारत ने तत्कालीन अफगान राष्ट्रपति बुरहानुद्दीन रब्बानी की सरकार का समर्थन किया था। तब भारत के साथ ईरान और रूस भी रब्बानी सरकार के साथ थे, लेकिन 2020 उस दौर से बहुत अलग है।

कई वर्षों से विश्व की बड़ी शक्तियों ने तालिबान से संबंधों की पींगें बढ़ाई हैं। इनमें चीन और यूरोपीय संघ के देश भी शामिल हैं। यहां तक कि ईरान और रूस ने भी अपने द्वार तालिबान के लिए खोले। इसके साथ-साथ अफगान सरकार का भी यह प्रयास रहा कि तालिबान उससे बातचीत करने के लिए राजी हो। वहीं तालिबान अफगान सरकार की इन कोशिशों को यह कहते हुए नकारता रहा कि वह अमेरिका की पिट्ठू है। इस बदलते घटनाक्रम में बेहतर होता कि भारत सरकार भी कुछ लचीला एवं व्यावहारिक रवैया अपनाकर बातचीत की तालिबानी पहल पर सकारात्मक रुख दिखाती।तालिबान का भारत को संदेश, पाकिस्तान का पिट्ठू कतई न समझें इसमें संदेह नहीं कि पाक और तालिबान के संबंध बहुत घनिष्ठ हैं और तालिबान इस्लामाबाद पर निर्भर भी है, लेकिन उन्होंने भारतीयों को यह संदेश देने की कोशिश भी की है कि उन्हें पाकिस्तान का पिट्ठू कतई न समझें।

भारत को अफगानिस्तान की बदलती सूरत पर कड़ी नजर रखनी होगी। वहां के घटनाक्रम से भारत के सामरिक समीकरणों पर भी असर पड़ सकता है, हालांकि ऐसी आशंका कम ही है। ऐसी स्थिति में भारत के लिए बेहतर यही होगा कि वह अफगानिस्तान में सभी राजनीतिक पक्षों के साथ सार्थक संवाद एवं सहायता जारी रखे। अफगानिस्तान में भारत जो भी सहायता कर रहा है, उसका वहां बहुत सकारात्मक प्रभाव है। इन गतिविधियों को और धार देकर आगे बढ़ाने की दरकार है।

---

राष्ट्रीय सहारा

***Date:02-03-20***

# अमेरिका-तालिबान समझौता

**संपादकीय**

फगानिस्तान में आखिर दो दशक बाद अमेरिकी और नाटो फौज की वापसी की राह खुली। उम्मीद यही की जानी चाहिए कि पूरी दुनिया और खासकर एशिया और हमारे क्षेत्र में शांति और स्थायित्व का नया दौर शुरू होगा। उम्मीद भी है कि इससे इस पूरे क्षेत्र में आतंकी गतिविधियों में भी विराम लगेगा। भारत ने इसका स्वागत किया है और कतर की राजधानी दोहा में अमेरिका और अफगानिस्तान इस्लामी अमीरात यानी तालिबान के बीच समझौते के वक्त हमारे राजदूत पी. कुमारन अमेरिकी विदेश मंत्री माइकल आर. पोंपियो के साथ मौजूद थे। अलबत्ता समझौते के बाद तालिबान के सियासी प्रमुख मुल्ला अब्दुल गनी बरादर ने पाकिस्तान का खासकर और ईरान, चीन तथा रूस का इस अमन प्रक्रिया में मदद के लिए शुक्रिया अदा किया मगर भारत का कहीं जिक्र तक नहीं किया। हालांकि भारत के मौजूदा अफगान सरकार के साथ रिश्ते अच्छे हैं, लेकिन आने वाले दिनों में अमेरिका-तालिबान समझौते के नतीजे किस रूप में खुलते हैं, यह देखना होगा। फिलहाल तो इससे पाकिस्तान और चीन को ज्यादा शह मिलती दिख रही है। अलबत्ता इस समझौते में पाकिस्तान तालिबान का कोई जिक्र नहीं है, न ही लश्करे तैयबा और जैश-ए-मोहम्मद का। लेकिन अफगानी तालिबान के प्रमुख मुल्ला बरादर के बयान से जाहिर होता है कि पाकिस्तान के हुक्मरानों को ज्यादा तरजीह मिलेगी। फिर, पाकिस्तान में चीन के बढ़ते असर से यह भी संभव है कि अफगानिस्तान में भी चीन का असर बढ़े। यानी यह समझौता भारत के हित में उतना नहीं लगता। हाल में अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के भारत दौरे के दौरान साझा बयान में आतंकवाद के खिलाफ प्रतिबद्धता की बात तो थी, लेकिन बाद में प्रेस कॉन्फ्रेंस में ट्रंप ने यह भी कहा कि पाकिस्तानी प्रधानमंत्री इमरान खान उनके अच्छे दोस्त हैं और वे सकारात्मक कदम उठाएंगे। क्या इसका यह मतलब है कि अमेरिका, भारत और पाकिस्तान दोनों को अपने जद में रखना चाहता है? अफगान समझौते से तो यही लगता है। यह तो कहा ही जा सकता है कि अफगान समझौता उस कदर भारत के हित में नहीं है, जैसी उम्मीद की जा रही थी। अफगानिस्तान में अगर भारत की भूमिका बढ़ती तो निश्चित रूप से इसका पाकिस्तान के साथ हमारे रिश्तों पर भी असर पड़ता। लेकिन अब शायद मामला वैसा न रहे। हालांकि कूटनीति और भू-राजनैतिक परिस्थितियों के बारे में कुछ भी तयशुदा नहीं कहा जा सकता।

---

जनसत्ता

***Date:02-03-20***

# उम्मीदें और सवाल

**संपादकीय**

अफगानिस्तान में शांति की स्थापना के लिए लंबे समय से जो कोशिशें चल रही थीं, उनका सुखद नतीजा शनिवार को कतर की राजधानी दोहा में अमेरिका और तालिबान के बीच हुए शांति समझौते के रूप में सामने आया है। इससे पहली उम्मीद यह बंधी है कि आतंरिक संघर्षों और विदेशी ताकतों के सैन्य जमावड़े से जर्जर हो चुके अफगानिस्तान को अब खूनखराबे से मुक्ति से मिल सकेगी। पिछले तीन दशकों में अफगानिस्तान जिस तरह से तबाह हुआ है, उसकी कल्पना कर पाना भी मुश्किल है। पहले रूस और अमेरिका ने इसे अपना अखाड़ा बनाया, फिर लंबे समय तक तालिबान ने हर तरह से इसे तबाह किया और सबको बचाने के नाम पर तालिबान का मुकाबला करने के लिए अमेरिका ने इसे अपना बड़ा सैन्य ठिकाना बना लिया। पर हुआ क्या? तालिबान न खत्म हुआ, न कमजोर पड़ा। आज भी वह अपनी मजबूत

स्थिति की वजह से ही अफगानिस्तान की सत्ता में भागीदारी मांग रहा है। फिलहाल राहत की बात यह है कि जिस समझौते पर लंबे समय से बात नहीं बन रही थी, वह अब हो गया है। यह भी सच है कि समझौता टिक तभी पाएगा, जब इससे जुड़े सभी पक्ष ईमानदारी से इस पर चलेंगे। लेकिन कौन, कितना और कब तक इसका पालन करता है, यह सवाल हमेशा बना रहेगा।

सवाल है कि समझौते से तालिबान को ज्यादा फायदा होगा या अमेरिका को? आखिर यही वक्त क्यों चुना गया समझौते के लिए? चाहते तो ट्रंप पहले भी इस करार को करके अफगानिस्तान से निकल सकते थे। इसके लिए दोहा में कई दौर की वार्ताएं हुईं। यह समझौता पिछले साल भी होते-होते रह गया था। एक अमेरिकी सैनिक की हत्या के बाद ट्रंप ने तालिबान के प्रति कड़ी नाराजगी जाहिर करते हुए अचानक ही समझौता नहीं करने का एलान कर दिया था। अफगानिस्तान को लेकर ट्रंप मुश्किल में थे। इस साल राष्ट्रपति चुनाव से पहले वे इससे इसलिए पिंड छुड़ाना चाहते हैं ताकि अफगानिस्तान, इराक जैसे देशों में अमेरिकी सैनिकों की मौत का मामला न उठे। अमेरिकी जनता अब नहीं चाहती कि उनके देश के सैनिक इस तरह की निरर्थक लड़ाइयों में मारे जाएं। फिर अमेरिका दूसरे देशों में होने वाले सैन्य खर्च को लेकर भी भारी दबाव में है। इसलिए अमेरिका की मजबूरी थी समझौता करना। तालिबान सत्ता में भागीदारी के सपने देख ही रहा है। उसे इससे हर स्तर पर और मजबूती मिलेगी। तालिबान के साथ जो समझौता हुआ है उसके अनुसार अगले चौदह महीनों में अफगानिस्तान से अमेरिका और नाटो के सैनिक चले जाएंगे।

पर समझौते की कई शर्तें ऐसी हैं जो इसकी सफलता को लेकर संदेह पैदा करती हैं। समझौते में इस बात पर सहमति बनी है कि तालिबान अलकायदा के साथ सारे रिश्ते खत्म कर देगा और हिंसक गतिविधियों को अंजाम नहीं देगा। लेकिन बड़ा सवाल यह है कि क्या तालिबान इतना ईमान दिखाएगा कि अमेरिका के कहने पर अलकायदा से रिश्ते तोड़ देगा? तालिबान की विचारधारा और इतिहास हिंसा और कट्टरपता से भरा है। समझौते के मुताबिक दस मार्च तक अफगाननिस्तान सरकार को हजारों तालिबान और अफगानी कैदियों को रिहा करना होगा। लेकिन अफगानिस्तान के राष्ट्रपति अशरफ गनी से इससे साफ इनकार कर दिया है और कहा है कि किसी भी कैदी को रिहा करना अमेरिका के अधिकार क्षेत्र में नहीं है, यह अफगान सरकार के अधिकार क्षेत्र में है। सत्ता में तालिबान की भागीदारी जटिल मुद्दा है। अगर तालिबान सत्ता में आ जाता है तो गनी के लिए इससे बड़ा संकट दूसरा नहीं होगा। तालिबान को सत्ता नहीं मिलने का मतलब होगा समझौते का पटरी से उतरना और अफगानिस्तान में संकट के दूसरे की शुरुआत। इसलिए उम्मीदों से ज्यादा आशंकाएं हैं।

---

Live हिन्दुस्तान.com

***Date:02-03-20***

# आसमान पर कूड़ेदान

**संपादकीय**

आसमान में नन्हे तारे कितने हैं? यह सवाल हमारे बचपन का सबसे बड़ा सवाल होता था, सबसे अबूझ पहेली। इसके जवाब से बच्चों को संतुष्ट करना किसी भी दौर के परिपक्व लोगों के लिए सबसे बड़ी चुनौती थी। लेकिन यह सवाल शायद उतना कठिन नहीं है कि दूर आसमान में मानव द्वारा भेजे गए कितने उपग्रह घूम रहे हैं? हालांकि यह बहुत आसान भी नहीं है, क्योंकि हर दूसरे दिन कोई न कोई उपग्रह अंतरिक्ष की ओर रवाना हो जाता है और हर दूसरे दिन ही कोई न कोई उपग्रह अपनी मियाद खत्म होने के बाद अंतरिक्ष में भटकने के लिए अभिशप्त हो जाता है। एक अनुमान के अनुसार, इस समय अंतरिक्ष में इंसान द्वारा भेजे गए 1,100 से ज्यादा सक्रिय उपग्रह हैं। इसके अलावा 2,600 से ज्यादा ऐसे उपग्रह हैं, जो जिनकी मियाद खत्म हो चुकी है, लेकिन वे अपनी कक्षाओं में चक्कर काट रहे हैं। ये संख्या अब काफी तेजी से बढ़ने लगी है। कई संचार कंपनियां हजारों की तादाद में नए उपग्रह लॉन्च करने की तैयारी कर रही हैं, ताकि आपको हर जगह बिना बाधा के इंटरनेट सुविधा मिले। अभी पिछले महीने ही 7 फरवरी को वनवेब नाम की कंपनी ने एक साथ 34 उपग्रह अंतरिक्ष में भेजे थे। पिछले साल मई में स्पेसएक्स नाम की कंपनी ने 60 संचार उपग्रह लॉन्च किए थे। उसकी शुरुआती योजना 1,600 संचार उपग्रह अंतरिक्ष में स्थापित करने की थी, लेकिन अब उसने 42,000 उपग्रह लॉन्च करने के लिए इजाजत की अर्जी दी है।

वैज्ञानिकों को डर है कि अगर ऐसा हुआ, तो कुछ समय बाद ब्रह्मांड का सबसे बड़ा कूड़ाघर दूर अंतरिक्ष में ही होगा। इसके जो खतरे हो सकते हैं, उनका आकलन इस समय दुनिया भर के वैज्ञानिक कर रहे हैं। लेकिन एक नुकसान तो साफतौर पर सामने आ चुका है। यह नुकसान अंतरिक्ष शोध से जुड़ा हुआ है। दुनिया भर के खगोलशास्त्री दूर आसामन में झांकने के लिए अपनी विशालकाय दूरबीनों के साथ रात का इंतजार करते हैं। तब सूर्य की किरणें बाधा नहीं बनतीं और वे आसानी से ग्रहों की गतिविधियों को देख समझ सकते हैं। मगर अब एक नई बाधा आने लगी है- मानव द्वारा अंतरिक्ष में भेजे गए उपग्रह। आमतौर पर इन उपग्रहों पर चमकीले सोलर सेल लगे होते हैं, जो सूरज की रोशनी पड़ते ही दमक उठते हैं। ये दमकते उपग्रह अंतरिक्ष के अध्ययन की सबसे बड़ी बाधा बनते जा रहे हैं।

चिली के सबसे ऊंचे पर्वत पर बनी वेरा सी रुबिन ऑब्जर्वेटरी के खगोलशा्त्रियों ने इसे लेकर अपनी शिकायत भी दर्ज कराई है। इस वेधशाला में जो दूरबीन है, उसकी गिनती दुनिया की सबसे विशाल दूरबीनों में होती है। इसके खगोलशास्त्रियों का कहना है कि ये मानव निर्मित उपग्रह उनके द्वारा प्राप्त एक तिहाई छवियों को खराब कर देते हैं। एक रास्ता यह सुझाया गया है कि ऐसे उपग्रह लांच किए जाएं, जो चमकीले नहीं धूसर हों और सूर्य के प्रकाश को परावर्तित न करें। स्पेसएक्स ने ऐसा एक उपग्रह इस साल जनवरी में लॉन्च भी किया है। यह बहुत बडे पैमाने पर तो शायद तभी हो सकेगा, जब इसके लिए कोई स्पष्ट कानून बनाया जाए। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ऐसा कानून बनाना और उसे लागू करना आसान नहीं है। लेकिन ऐसा हो भी जाता है, तब भी अंतरिक्ष के कूड़ेदान हो जाने की समस्या को समाधान नहीं होगा। ऐसा क्यों होता है कि इंसान जहां भी जाता है, कूड़ा छोड़ आता है?

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

***Date:02-03-20***

# An uneasy pact

## *As curtains fall on moderate political order in Kabul, Delhi must prepare for turbulence ahead*

**Editorial**

In agreeing to withdraw all US forces from Afghanistan over a period of 14 months, Washington has got Taliban's promise to prevent the use of Afghan soil by any group that threatens the security of America and its allies.The agreement signed in Doha on Saturday between the United States and the Taliban marks the beginning of a potentially dangerous phase in the unfortunate recent history of Afghanistan. Although it has been billed as a "peace agreement" it is more a phased "withdrawal schedule" for the 12,000 US forces currently stationed in Afghanistan. The promise to end America's "endless wars" in the greater Middle East region was one of the central themes of US President Donald Trump's election campaign in 2016. He is eager to demonstrate progress on that front in his bid for re-election later this year. Although he deployed additional troops in Afghanistan during 2017, Trump's conviction that America's longest ever war in Afghanistan is unwinnable was reinforced by the continuing US inability to put the Taliban under serious military pressure.

In agreeing to withdraw all US forces from Afghanistan over a period of 14 months, Washington has got Taliban's promise to prevent the use of Afghan soil by any group that threatens the security of America and its allies. The Taliban has also agreed to join talks with various Afghan groups, starting later this month, to discuss a permanent ceasefire and a road map to install a new political regime in Kabul. The US has certainly made its promise of withdrawal conditional upon the Taliban holding up its commitments. This conditionality is unlikely to survive the diminishing political support in Washington for further military involvement with Afghanistan. The biggest casualty of the US withdrawal is the Kabul government that was kept out of the US talks with the Taliban. Growing internal squabbling in Kabul has further marginalised the government. The imminent intra-Afghan talks will involve many Afghan groups but the Taliban will be the most powerful player at the table and is bound to set the terms for the final agreement.

The Taliban, whose strength lies among the Pashtuns, is not known for a politics of accommodation with other ethnic groups that constitute more than half of the Afghan population. The return of a unilateral Taliban could set the stage for the next round of civil war that has hobbled the nation since the late 1970s. The lifting of the US military footprint and the uncertain political future of Kabul provide a fertile ground for meddling by other regional actors, especially the Pakistan army, which sees Afghanistan as its backyard. India, which has seen its influence grow in Afghanistan since the US intervention at the end of 2001, has never been enthusiastic about Washington's engagement with the Taliban. It has chosen to keep its political lot with Kabul, which is growing weaker by the day. Delhi has also held itself back from any formal contact with the Taliban. Critics say this policy is too rigid to cope with the dynamic Afghan situation. Supporters, however, argue that it is better to hold on to the allies you have rather than looking

for new friends among the Taliban. Either way, Delhi must prepare for prolonged turbulence in Afghanistan as the curtains fall on Kabul's moderate political order.

---

THE HINDU

***Date:02-03-20***

# A big, bad deal

## *The U.S. deal with Taliban leaves the Afghan people at the mercy of violent, tribal Islamists*

**Editorial**

The deal signed between the U.S. and the Taliban in Doha on Saturday sets the stage for America to wind down the longest war in its history. It went into Afghanistan in October 2001, a few weeks after the 9/11 terror attacks, with the goals of defeating terrorists and rebuilding and stabilising the central Asian country. Almost 19 years later, the U.S. seeks to exit Afghanistan with assurances from the Taliban that the insurgents will not allow Afghan soil to be used by transnational terrorist groups such as al-Qaeda and that they would engage the Kabul government directly to find a lasting solution to the civil war. America's desperation is understandable. The Afghan war is estimated to have cost $2-trillion, with more than 3,500 American and coalition soldiers killed. Afghanistan lost hundreds of thousands of people, both civilians and soldiers. After all these, the Taliban is at its strongest moment since the U.S. launched the war. The insurgents control or contest the government control in half of the country, mainly in its hinterlands. The war had entered into a stalemate long ago and the U.S. failed to turn it around despite both American Presidents Barack Obama and Donald Trump having sent additional troops. Faced with no other way, the U.S. just wants to leave Afghanistan. But the problem is with the way it is getting out.

The fundamental issue with the U.S.'s Taliban engagement is that it deliberately excluded the Afghan government because the insurgents do not see the government as legitimate rulers. By giving in to the Taliban's demand, the U.S. has practically called into question the legitimacy of the government it backs. Second, the U.S. has made several concessions to the Taliban in the agreement. The Taliban was not pressed enough to declare a ceasefire. Both sides settled for a seven-day "reduction of violence" period before signing the deal. The U.S., with some 14,000 troops in Afghanistan, has committed to pull them out in a phased manner in return for the Taliban's assurances that it would sever ties with other terrorist groups and start talks with the Kabul government. But the Taliban, whose rule is known for strict religious laws, banishing women from public life, shutting down schools and unleashing systemic discrimination on religious and ethnic minorities, has not made any promises on whether it would respect civil liberties or accept the Afghan Constitution. The Taliban got what it wanted — the withdrawal of foreign troops — without making any major concession. Lastly, the U.S. withdrawal will invariably weaken the Kabul government, altering the balance of power both on the battlefield and at the negotiating table. A weakened government will have to talk with a resurgent Taliban. The U.S., in a

desperate bid to exit the Afghan war, has practically abandoned the Kabul government and millions of Afghans who do not support the Taliban's violent, tribal Islamism, to the mercy of insurgents.

---

***Date:02-03-20***

# A deal that increases uncertainty

## *The U.S.-Taliban agreement achieves some objectives, but may not bring lasting peace*

**Mohammed Ayoob , is University Distinguished Professor Emeritus of International Relations, Michigan State University**

The U.S.-Taliban agreement signed on February 29 may end up paving the way for further intra-Afghan fighting because it leaves the most important issue, namely, the future relationship between the Afghan government and the Taliban, unresolved. All it does is to propose an intra-Afghan dialogue between the Kabul government and the Taliban scheduled to begin on March 10.

The prospects of such a dialogue leading to a durable peace in the country do not seem to be very good. A major reason for this is the inability of both the Kabul government and the Taliban to speak in one voice. The government is a perfect picture of disunity with President Ashraf Ghani and his primary challenger Chief Executive Abdullah Abdullah threatening to set up parallel governments. What makes this rivalry very dangerous is that Mr. Ghani belongs to the largest ethnic group, the Pashtun, and Mr. Abdullah's base is among his fellow Tajiks, the second largest group in Afghanistan.

Concessions made by Mr. Ghani's government to the Taliban will likely be interpreted by Mr. Abdullah's supporters as an intra-Pashtun deal reached at the expense of other ethnic groups, especially the Tajiks and the Uzbeks, who formed the bulk of the anti-Taliban Northern Alliance from 1996 to 2001. Consequently, ethnic fissures may descend into open conflict.

### The many faces of Taliban

Similarly, the Taliban, despite appearances to the contrary, is not a well-knit force. It is composed of various regional and tribal groups acting semi-autonomously. All of them may not be amenable to following the directions of its top leadership. It is, therefore, possible that some of them may continue to engage in assaults on government troops and even American forces during the withdrawal process.

What the U.S.-Taliban agreement has accomplished in reality is to help the leaders on both sides achieve their primary objectives. The Taliban has pledged not to allow any terrorist organisation, such as al-Qaeda and the Islamic State, to operate from the territory it controls. Although important for American security interests, this was secondary to the Donald Trump administration's key concern. Mr. Trump's main goal was to demonstrate to his domestic constituency that he was serious about bringing American troops back home. According to the timeline set out in the agreement, all U.S. and NATO troops will withdraw from Afghanistan within 14 months. More important, the joint statement declared that the U.S. would reduce the number of U.S. military forces in Afghanistan to 8,600 within 135 days. This means that

a substantial number of American troops will return to the U.S. well before the presidential election, thus giving a boost to President Trump's odds for re-election.

The Taliban leadership has also achieved its primary goal, namely, the withdrawal of foreign troops within a reasonable time frame. The Taliban already controls or contests half the country's territory and the American and NATO withdrawal will help it expand its territorial base at the expense of the government's poorly trained forces.

## Why India should be concerned

The prospect of this happening should worry New Delhi for two interrelated reasons. One, India has a major stake in the stability of Afghanistan, however tenuous it may be, as it has invested considerable resources in the country's development. Two, India has a major stake in the continuation in power of the present dispensation, which it considers a strategic asset vis-à-vis Pakistan. An increased political and military role for the Taliban and the expansion of its territorial control should be of great concern to India since the Taliban is widely believed to be a protégé of Islamabad. Therefore, any celebration in New Delhi will be highly misplaced.